सत्यांश

लिखना जरूरी है ?

पिछले साढ़े तीन साल में, जब से युगसेतु का प्रकाशन प्रारंभ हुआ है, तब से ऐसा कभी नहीं हुआ कि संपादकीय लिखने के लिए कोई विषय ही न सूझे। पहले तो कई-कई विषय एकसाथ लेखनीय लगते थे, जिनमें से दो-तीन पर तत्काल टिप्पणी बन जाती थी और कुछएक इस पक्के इरादे से सुरक्षित रखने पड़ते थे कि भविष्य में कभी न कभी उपयुक्त अवसर तलाश कर अवश्य लिखना है। समयानुकूल प्रासंगिक लगने पर तीन-तीन संपादकीय लेख इकट्ठे भी डाले गए, जिनमें से कुछ निर्धारित कलेवर से बड़े भी हुए। वास्तव में विषयों-मुद्दों की कोई कमी है - यह तो कभी हो ही नहीं सकता। प्रतिदिन स्थानीय स्तर से लेकर देश-विदेश तक सैकड़ों घटनाए¡ घटित हो रही हैं, जिनका तात्कालिक-दीर्घकालिक प्रभाव-परिणाम निश्चित रूप से होता है। आखिर इन्हीं पर तो मुद्रित व दृश्य-श्रव्य मीडिया में संपादकीय, आलेख, बहस तथा चर्चा-परिचर्चा बखूबी चल रही है।

इस बार विषय अदृश्य लगे तो इसके पीछे अपनी पुस्तक 'अकथ अलेख' के प्रकाशन पर सारा धयान केन्द्रित रखना एक मुख्य कारण है। आदमी जिधर देखता-सोचता है, आखिर उधर ही तो दृष्टि विकसित होती है। यों बेहिसाब हो रहे प्रकाशन के बावजूद गुणवÙाापूर्ण पुस्तक-प्रकाशन का काम आसान नहीं है। प्रकाशन की अवस्था को प्राप्त करने से पूर्व हिन्दी टंककों द्वारा भी इस काम काफी कठिन कर दिया गया है। खैर! यह पुस्तक कोई नई कृति नहीं है, बेशक पुस्तकाकार रूप में नई तो है ही। इसमें संकलित लेख ज्यादातर युगसेतु में और थोड़े अन्यत्र छप चुके हैं। खाली लेखों का संग्रह कर देने से ही कोई पुस्तक नहीं बन जाती। एक-जैसे लगभग साठ लेखों को अद्यतन व संपादित करके पुस्तकीय परिणति का कार्य संपन्न हो चुका है। आजकल लेखन और उसका प्रकाशन कैसे-कैसे हो रहा है खासकर हिन्दी जगत में-यह सब देख-सुनकर पुस्तक लिखकर प्रकाशित कराने की ओर कदम बढ़ाना हमारे जैसे लोगों के लिए अपनी प्रतिब¼ता के प्रतिकूल जाना भी है। नामी साहित्यकारों और 'साहित्यिक मठों' में स्थापित रचनाकारों-आलोचकों के आस-पास म¡डराने व धमाचौकड़ी करने वाले प्रकाशक नवोदित व प्रोत्साहन-पात्र लेखकों के प्रति विपरीत रवैया अपनाते हैं। उनका संकेत है कि 'बड़ों का बड़ों के प्रति सद्व्यवहार' देखकर अन्य जन भी उसी तरह अनुकरण करने-कराने को न टूट पडें। हजारों वर्ष पूर्व महाराज द्रुपद ने भी तो द्रोणाचार्य को यही समझाया था कि ''मित्रता तो बराबरवालों में होती है। एक राजा का मित्र एक याचक ब्राã्मण कैसे हो सकता है। बचपन नासमझ होता है, अतः बचपन की बातें भूल जानी चाहिए। दोस्त की भा¡ति मा¡गने की बजाय गरीब भिखारी ब्राã्मण की तरह मा¡गने पर क्षोण को सैकड़ों गाए¡ मिल सकती हैं।'' हाला¡कि क्षोणाचार्य को यह नागवार गुजरा और वे प्रतिहिंसा की ज्वाला में धधकते हुए प्रतिशोध लेकर ही माने। पंरतु इस तरह धक्का खाए वही क्षोण कर्ण और एकलव्य के प्रति सदाशयता तो क्या, सामान्य शिष्टाचार जो उनके जैसे बड़े व्यक्तित्व वाले ब्राã्मण गुरु के लिए आवश्यक था, उसे नहीं निभा पाए और हद तो तब हो गई जब अपनी तरफ से रÙाी भर भी प्रोत्साहन दिए बिना गुरुत्व की अंहकारी गरिमा से मंडित होकर एकलव्य का अगू¡ठा ही कटवा लिया ताकि वह सर्वश्रेष्ठ अथवा श्रेष्ठ क्या, साधारण धनुर्धर भी न रह पाए। यह तो उसकी लगन का प्रताप था कि बिना अगू¡ठा के भी धनुषधारी रह पाया। आचार्य क्षोण ने अपना गुरुत्व-गांभीर्य हस्तिनापुर में, हस्तिनापुर के लिए ही गिरवी रख दिया था, फलतः वह व्यापकत्व को प्राप्त न हो पाया। अतः न उसमें हस्तिनापुर के असली वारिसों को छत्र उपलब्ध हो पाया और न बाहरी दूसरों को।

बहरहाल, कुछ बड़े अपवादों को छोड़कर, आजकल हिन्दी लेखक से बिना पैसे लिए प्रकाशक किताब नहीं छापते हैं और इसी पैसे के दम पर छपने योग्य बिल्कुल न होने वाली चीजें भी पुस्तक के रूप में छप जाती हैं। इसलिए अब न लेखकों की कमी है, न प्रकाशकों की और न ही किताबों की। परंतु उच्चतम-उत्कृष्ट तथा मानक हिन्दी चिंतन व भाषा वाली पुस्तकों का अब भी अभाव है। ऐसे में साक्षरता-दर बढ़ने व शिक्षा-दीक्षा में विकास-विस्तार के बावजूद पठनीयता में ह^{a}ास हुआ है। इस प्रतिगामी चलन-ट^{a}ेंड में बड़े-बड़े धुरंधर गोता लगाते हैं, किताब बिकवाने के आश्वासन से लेकर अपने परिचय-संपर्क तक दर्शाते हैं। ऐसे लेखकों-प्रकाशकों का बड़ा नेटवर्क है जो किसी भी पुस्तकालय में ऐसी-वैसी-कैसी भी बिकवाने का क्षमता रखते हैं। दूसरी ओर, हमारा स्पष्ट मानना है कि किताब छपवाने के लिए लेखक

को पैसे देने की नाजुक नौबत आए, तो उससे अच्छा है कि स्वयं छापे और पुस्तक बेचने की बजाय मुÝत में बा¡टे, क्योंकि जो वास्तव में लेखक-रचनाकार होगा, वह किताब बेच नहीं पाएगा। अपने पैसे से किताबें छपवाकर मुÝत में बा¡टने का काम हमने पहले किया भी है।

पुस्तक प्रकाशन या लेखक बनने से पूर्व छोटी-छोटी रचनाए¡ और लेख प्रकाशित कराने की कई बार हवस भी चढ़ जाती है। युगसेतु के प्रकाशन के पूर्व आधा दर्जन लेख सरकारी और निजी साहित्यिक-सांस्कृतिक पत्रिकाओं को भेजा, जो छप न सका। चार लेख मा¡ग के अनुरूप लिखे जाने पर प्रकाशित हुआ, पर मा¡ग की आपूर्ति वाला एक लेख 'साहित्य : सत्य का स्वैच्छिक प्रयोग' किन्हीं कारणों से न छप सका। इसे बाद में युगसेतु के प्रवेशांक में प्रकाशित किया। इसे न छापने वाली कोई और नहीं, बल्कि अपनी 'पा¡चवा¡ स्तंभ' पत्रिका ही है। इसकी संपादिका मृदुला सिन्हा जी ने तब मुझसे शिष्टतावश बताते हुए पूछा कि उनकी बहू संगीता शाही और मेरा लेख एक ही ढर्रे का चिंतनात्मक है, एक अंक में दोनों ठीक नहीं होगा, अतः किसका रखना और किसका हटाना चाहिए? आदतन स्वाभाविक था कि मैं अपना हटाने को कहता और वही हुआ। तत्काल अन्य जगह भी न छपना युगसेतु पत्रिका के प्रकाशन और उसमें संपादकीय के अतिरिक्त चाहे-अनचाहे अपने नए-पुराने लिखे लेखों को प्रकाशित करने के मूल में चेतन-अवचेतन में उपस्थित एक बड़ा कारण था। 'आजकल' वालों ने बहुत बाद में 'भोजपुरी लोकगीत और नारी स्वातंत्र्य' लेख दुबारा मा¡गा, जिसे हमने अनसुना कर दिया। तब तक संकल्प कर लिया था कि न अन्यत्र अपना लेख भेजना है और मा¡गने पर भी सामान्यतः नहीं देना है। थोड़ा-बहुत जो कुछ भी लिखना है, वह युगसेतु के लिए ही। इसलिए चाहे इसके अंक अनियमित हो जाते हों, पर संपादकीय वेबसाइट पर समय पर अवश्य रख दिये जाते हैं।

फिलहाल यहा¡ हिन्दी के दो बड़े प्रकाशकों, जिनका नाम 'राज' उपसर्ग वाला नहीं है, उनका जिØ प्रासंगिक है। चू¡कि ये बड़े प्रकाशक हैं, अतः हिन्दी की दो बड़ी साहित्यिक पत्रिकाए¡ इनके यहा¡ से निकलती हैं। एक के बुजुर्ग मालिक पत्रिका के प्रबंध संपादक हैं। वे स्वभाव से मीठे तथा 'व्यवहारकुशल' भी हैं। इन्होंने नेता-साहित्यकारों की किताब बड़ी संख्या में छाप रखी है, जिनमें अटल बिहारी वाजपेयी से लेकर विष्णुकांत शास्त्री और मृदुला सिन्हा तक की कृतियां शामिल हैं। एक बार लगभग आठ साल पहले धामपुर से आए एक मित्र के साथ कुछ पुस्तकों की खोजबीन के लिए उनके कार्यालय सह शो-रूम में जाना हुआ। पुस्तकों को काफी देर देखने के दरम्यान शीशे वाले केबिन के भीतर से बुजुर्ग प्रकाशक-स्वामी की नजर ने मुझे देख लिया और मैंने उन्हें। उन्होंने झट से इशारा करके अंदर बुला लिया। डेढ़-दो मिनट बातचीत हुई और उन्होंने चाय-पानी का ऑफर दिया। वे और उनके पुत्र परिजन हमें पहले से जानते थे। दर्जनों बार उनके यहा¡ जाना हुआ था, कई बार मृदुला जी के साथ भी। भारतीय जनता पार्टी के केन्द्रीय कार्यालय में न जाने कितनी बार मुलाकातें हुई थीं और मृदुला जी के कहने पर छठ का प्रसाद दो तीन बार उनके घर जाकर भी हम दो-तीन लोग देते थे। इधर अभी डेढ़-दो मिनट ही हुआ था कि प्रकाशक महोदय का युवा परिजन आकर मुझसे कहने लगा कि आप अंदर कैसे आ गए? हमने उÙार दिया कि सामने वाले ने बुलाया, तभी आए। वह बार-बार केबिन के अंदर बैठने पर तकरार करने लगा और सामने बैठे बुजुर्ग ने कुछ नहीं बोला, टुकुर-टुकुर देखते रहे। अंततः मैंने बाहर निकल कर उसके हरामीपना के लिए साफ स्पष्ट शब्दों में समझाया कि यहा¡ बैठने का न कोई शौक है, न शगल और न जरूरत। और फिर यहा¡ अटल बिहारी वाजपेयी जी कोई कैबिनेट की बैठक थोड़े कर रहे है कि इतनी परेशानी हो गई। तब से न जाना हुआ और न मुलाकतें ही हुई। ऐसे ही एक-दूसरा प्रकाशन है जो बड़ा साहित्यिक पुरस्कार भी वितरित करता है। उसी पुस्कार वितरण कार्यØम में किन्हीं कारणों से हमें मुख्य अतिथियों ने मिलने के लिए बुलाया। जब गया, तब अंदर जाने में दिक्कत कि हमारे पास कार्ड नहीं है। हमने बताया कि जिनको आप लोगों ने बुलाया है, उन्होंने ही मुझे यहा¡ बुलाया है। मैं आज तक आपके कार्यØम में नहीं आया हू¡ और न आगे आने की कोई लालसा या जरूरत है। लेकिन मशक्कत या चिरौरी करके काम निकालने की आदत नहीं, अतः वापस जाने हमें संकोच नहीं होगा। संयोग से उसी समय तत्कालीन राज्यपाल विष्णुकांत शास्त्री जी के साथ केन्द्रीय समाज कल्याण बोर्ड की अèयक्ष मृदुला सिन्हा जी वहा¡ पहु¡च गईं और मैं अंदर जाने से बच नहीं सका। यह है बड़ों का मु¡ह देखकर बातें बनाने वाले, दुम हिलाने वाले और उच्च पदधारक लोगों की चापलूसी करके व्यवसाय चलाने वाले साहित्यिक प्रकाशकों की हकीकत। इनके 'रियापन' को

दूर करने के लिए क्या उपाय होना चाहिए- यह शोचनीय ही नहीं, करणीय भी है। इसलिए किताब छापने या किसी अन्य कार्य के लिए ऐसों से संपर्क का सवाल नहीं उठता और इसमें कोई समस्या भी नहीं, क्योंकि इन प्रकाशकों के बिना भी हमारी सेहत पर कोई फर्क नहीं पड़ना और हमारे बिना इनका काम चलना ही है। हम लोग तो नरेन्द्र मोदी और अमरीका जैसे महान भी नहीं कि ना-ना करते जोरदार हामी भर दें। शायद इसीलिए मोदी मोदी हैं, अमेरिका अमेरिका और .....।

अस्तु, बात युगसेतु के संपादकीय की है कि विषयों का अभाव क्योंकर होने लगा, जिस कारण विषयाभाव पर ही संपादकीय लिखना पड़ रहा है। हम पेशेवर लिखने वाले नहीं हैं और न ही लिखना हमारा शौक है। सही यह है कि लिखना कुछ समय से मजबूरी और जरूरी बन गया है। लेकिन मजबूरी या जरूरी होने से ही कोई चीज नहीं चली आती। लघुशोध प्रबंध और शोध प्रबंध ईमानदारी से लिखा जाए, तब लिखने की शक्ति और कला एक स्तर तक आ जाती है और इसी वजह से हम जैसे लोग कुछ लिख लेते हैं। हमारे शोध-कार्य का एक बड़ा भाग ऐसा था जिस पर तब लिखित सहायक सामग्री न के बराबर उपलब्ध थी। इसलिए स्वयं सोच-सोचकर लिखना होता था, जो हमारे लिए एक वरदान सदृश था। फिर लिखने-बोलने से अधिक करने पर भरोसा रखने के कारण लेखन कला का विकास कम हो पाया। दिग्भ्रम, कुप्रचार और बौ¼क माया के मकड़जाल के समूल उच्छेदन की कामना ही हमारे लिए लेखकीय प्राण है। यह लेखन कभी महÙवपूर्ण भी लगता है और कभी निरा व्यर्थ भी। राष्ट्aकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' का विचार इस सम्बन्ध में याद आता है -

तुम क्यों लिखते हो ? क्या अपने अंतरतम को
औरों के अंतरतम के साथ मिलाने को?
अथवा शब्दों की तह पर तह पोशाक पहन
जग की आंखों से अपना रूप छिपाने को?

जो कुछ खुलता सामने, समस्या है केवल
असली निदान पर पड़े वज्र के ताले हैं।
उÙार, शायद हो छिपा मूकता के भीतर
हम तो प्रश्नों के रूप सजाने वाले हैं।

बढ़िया लेखन महत्वपूर्ण थाती होता है, पर यह मनुष्य जीवन का एक पक्ष भर है। जीवन को पूर्णता सर्वतोमुखी सर्वांगता के प्रकर्ष से मिलती है।